वेदान्त

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

भारत की मूल संस्कृति के सम्बन्ध में
प्रेरणादायक विचार

•

मूल लेखक
चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अनुवादक
सीताचरण दीक्षित

•

१९८०

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

•

दूसरी बार : १९८०
मूल्य : रु० ३.५०

•

मुद्रक
कंवल किशोर द्वारा लखेरवाल प्रेस, करोलबाग,
नई दिल्ली-५ में मुद्रित

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान लेखक से हिन्दी के पाठक भलीभांति परिचित हैं। उनकी अनेक पुस्तकें 'मंडल' से प्रकाशित हुई हैं। सभी पुस्तकों की पाठकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इस पुस्तक में लेखक ने बड़े ही सरल-सुबोध ढंग से बताया है कि वेदान्त और उससे विकसित संस्कृति तथा नीतिशास्त्र संयोजित जीवन-व्यवस्था का दृढ़ आध्यात्मिक आधार बन सकते हैं। व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता तथा जंगल के न्याय पर आधारित वर्तमान अराजकतापूर्ण जीवन-व्यवस्था के स्थान पर संयोजित व्यवस्था की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। राजाजी का कथन है कि जबतक हमारे पास आध्यात्मिक मूल्यों का शास्त्र और अन्दर से नियमों का कार्य करने वाली संस्कृति नहीं होगी तबतक केवल भौतिक संयोजन और बाह्य विघटन का परिणाम भ्रष्टाचार और प्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

इस पुस्तक में लेखक ने ऋषियों के ज्ञान को अपने बहुमूल्य अनुभवों के परिपक्व निष्कर्षों के साथ मिलाकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

यह पुस्तक पहले हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। उसे 'मंडल' से निकाल देने की अनुमति देने के लिए हम राजाजी की सुपुत्री श्रीमती लक्ष्मी देवदास गांधी के आभारी हैं।

पुस्तक अत्यन्त जीवनोपयोगी है। वह सत्य का मार्ग बताती है और यह भी कि असत्य से किसी भी स्थायी वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता।

—मंत्री

अनुक्रम

□

□□

वेदान्त

१

वेदान्त और नई जीवन-व्यवस्था

सत्य एक और अविच्छेद्य है। अतएव विज्ञान, धर्म और राजनीति में सन्निविष्ट विरोधी भाव सामाजिक हित को हानि पहुंचाये बिना नहीं रह सकते। मूल तत्त्वों की विसंगति संशय, क्लेश, पाखंड और पराजय का भाव उत्पन्न करती है। उसमें निहित मानव-प्रयत्नों का अपव्यय हम सहन नहीं कर सकते। प्रकृति के जिस विधान को हम जानते हैं, जिस दर्शन पर हम विश्वास करते हैं और जिस राजनीति का हम व्यवहार करते हैं, उन सबको परस्पर अनुकूल और सुसंगत बनाना चाहिए। यदि हममें सत्य पर सच्ची श्रद्धा और मानव-सभ्यता के पुरातन सृष्टाओं के साहस और पुरुषार्थ का कुछ भी अंश है, तो हमें इससे निराश नहीं होना चाहिए।

जो वस्तु विज्ञान के नाम से सिखाई जाती है और सत्य के नाम से पूर्णतया स्वीकार कर ली जाती है, उसे धर्म में भुला देने की अपेक्षा है। इतना ही नहीं, धर्म में जिस श्रद्धा को पवित्र और अनुल्लंघनीय माना जाता है उसे राजनैतिक कार्यों से अलग रखने और उनमें कोई योग प्रदान न करने देने की अपेक्षा की जाती है। इसके लिए हम अनेक प्रकार की आत्म-प्रवंचना का आश्रय लेते हैं और विसंगति को वंशानुवंश जारी

रखने के विचारपूर्ण उद्देश्य से अपनी संतति के साथ कपटाचार करते हैं। विरोधी विचारों का—भले ही वह सद्भावपूर्ण हों—एक साथ स्वीकार किया जाना कल्याणकर नहीं हो सकता। असत्य का पुरस्कार आध्यात्मिक मृत्यु है। स्त्रियों और पुरुषों के मन और बुद्धि ही प्रगति के मुख्य साधन हैं, परन्तु उनका निरन्तर क्षय किया जा रहा है। समग्र मानव-जाति अथवा व्यक्ति-विशेष के लिए यह हितकर कैसे हो सकता है ?

प्राचीन काल में इतना विरोध-भाव नहीं था। इसका एक कारण यह था कि उस समय विज्ञान की इतनी प्रगति नहीं हुई थी। धर्म और दर्शन के उत्साहपूर्ण अनुसरण से विसंगति उत्पन्न नहीं होती थी, वरन् मनुष्य बड़ी-बड़ी सफलताएं प्राप्त करते थे। यह इसलिए संभव हुआ कि उन्होंने परस्पर-विरोधी सिद्धांतों पर विश्वास करने का प्रयत्न नहीं किया। अब विज्ञान का विकास हो गया है और उसे पहले से बहुत वड़े प्रमाण में स्वीकार कर लिया गया है। इसी के फलस्वरूप विसंगति का दोष अधिक गंभीर हो उठा है।

धर्म और राजनैतिक प्रवृत्तियों का पारस्परिक विरोध विज्ञान और धर्म के पारस्परिक विरोध से भी बड़ा है। यह एक चमत्कार है कि प्रामाणिक ईसाई वर्तमान राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के बीच अपने मन को स्वस्थ रखते हैं। ईसा की वाणी के रूप में जो पढ़ा और पढ़ाया जाता है, उसका पूर्ण उल्लंघन करने के लिए शासनतंत्र अनुमति, सहायता और उत्तेजना देता है। निर्मम प्रतिद्वन्द्विता का साम्राज्य, दूसरों को हानि पहुंचाकर अधिकतम लाभ प्राप्त करने का अधिकार और प्राप्त सुविधाओं का ऐसा उपयोग, जिससे कि मनुष्य और मनुष्य के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता जाय—ईसा को सर्वथा अस्वीकार है। फिर भी, इस प्रकार की ईसाई धर्म-

विरोधी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए शासनतंत्र से अधिकार प्राप्त करके संरक्षण के अन्तर्गत बड़ी-बड़ी संस्थाएं स्थापित की जाती हैं, जिनका गिरजाघरों और मठों के समान आदर होता है। इस मिथ्याचार के भार से सभ्यता का भवन ढहे बिना नहीं रह सकता। जो व्यक्ति विशेष प्रस्तुत व्यवस्था के विरुद्ध अपने विचार तो प्रकट करते हैं, परन्तु उसमें प्रभावोत्पादक ढंग से हस्तक्षेप नहीं करते, उनका विरोध आरम्भ में भले ही सहायक मालूम हो, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। वह यदि अपराध के लिए एक प्रकार की उत्तेजना नहीं तो, पलायनवाद अवश्य है।

स्पष्ट है कि जो भी धर्म अथवा दर्शन आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल होगा, वह पाखंड और दंभ बनकर रह जायगा। यदि हम मानव-प्रगति का दृढ़ आधार सुरक्षित रखना चाहते हैं तो विज्ञान और धर्म तथा राजनीति और धर्म के बीच की समस्त विसंगति का अन्त किया जाना चाहिए, जिससे समन्वित विचार और भावनाओं की प्रतिष्ठा हो सके।

भारत में एक धर्ममूलक दर्शन प्रस्तुत है, जो स्वयं सभ्यता के समान पुरातन है। वह विज्ञान के असाधारणतः अनुकूल है, यद्यपि विदेशियों को यह दावा विलक्षण प्रतीत हो सकता है। उस धर्ममूलक दर्शन से एक नीतिशास्त्र विकसित हुआ है, जो अधिक न्यायपूर्ण, सामाजिक तथा आर्थिक संगठन का दृढ़ आध्यात्मिक आधार बनने योग्य है। यह एक असाधारण बात है कि विकास के सिद्धांत का और नियम के शासन का—जिस रूप में उसे वैज्ञानिक जानते हैं—निरूपण हिन्दू धर्म में पहले ही कर दिया गया था।

वेदान्त का परमात्मा मनुष्य की कल्पना द्वारा उत्पन्न और मानव-रूप-आरोपित परमात्मा नहीं है। गीता में ईश्वर के

प्रभुत्व की व्याख्या ऐसी भाषा में की गई है, जिसमें आधुनिक विज्ञान द्वारा धार्मिक विश्वोत्पत्ति-शास्त्र के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का अनुमान और समाधान निहित है। परमात्मा का प्रभुत्व कारण और कार्य के अपरिवर्तनीय विधान में और उसके द्वारा, प्राकृतिक नियमों के द्वारा, सब क्षेत्रों में कार्यान्वित होता है।

"सब चराचर सृष्टि मुझमें स्थित है और फिर भी यह आश्चर्य देखा कि मैं उससे अलग हूं और प्रकृति अकेली काम करती रहती है। प्रकृति ही, मेरे हस्तक्षेप के बिना, चर और अचर सृष्टि को उत्पन्न करती है।"[1]

उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होगा कि वेदान्त में यह गृहीत मान कर कि विश्व का विकास आदितत्त्व में निहित शक्ति के क्रमिक विकास से हुआ है, आधुनिक विज्ञान के सिद्धांत पहले से ही प्रतिपादित कर दिये गए हैं। वास्तव में हिन्दू धर्म-दर्शन अन्य सब धर्मों की विचारधाराओं की अपेक्षा प्रकृति-विज्ञान तथा भौतिक शास्त्र की विकास-सम्बन्धी और आणविक उत्पत्तियों के अधिक निकट है। उपनिषदों की प्रधान विशेषता यह है कि उनमें सत्य की भक्ति और अविराम गवेषणा का आग्रह किया गया है। यह वैज्ञानिक अनुसंधान से भिन्न है।

लाभ के उद्देश्य और पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की तथाकथित नागरिक स्वतंत्रता के स्थान पर संयोजित सहकारी अर्थव्यवस्था बाह्य अधिकार पर अवलम्बित होकर सुरक्षित नहीं रह सकती—चाहे वह अधिकार कितना ही महान क्यों न हो। उसके लिए आन्तरिक रूप में कानून का काम करने वाली

१, गीता, ९-४-१०

संस्कृति तथा आध्यात्मिक मूल्यों के सर्वमान्य नियम आवश्यक हैं। ऐसे आध्यात्मिक नियंत्रण के बिना केवल भौतिक संयोजन का अन्त व्यापक भ्रष्टाचार और प्रवंचना में होना अनिवार्य है। वेदान्त और उससे प्रस्रवित नीतिशास्त्र, जिसका भगवद्-गीता में विशद विवेचन किया गया है, संयोजित सहकारी समाज-जीवन का आध्यात्मिक आधार बनने के पूर्ण उपयुक्त हैं। उस जीवन में प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करेगा और आवश्यकता के अनुसार पायेगा।

व्यक्तिगत लाभ का उद्देश्य रक्खे बिना, केवल समाज के हित की दृष्टि से काम करना ही भगवद्गीता में जीवन का मार्ग बताया गया है। वह सब कामों की समान प्रतिष्ठा और पवित्रता पर तथा निर्लिप्त होकर और परिणाम से उद्विग्न हुए बिना सचाई के साथ कर्म करने पर जोर देती है। वास्तव में गीता एक अनोखी रीति से धार्मिक रूप में समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन करती है। गीता बताती है कि अपने नियम कर्मों को करना अधिकतम सच्चे अर्थ में ईश्वर की उपासना करने से तनिक भी कम नहीं है।[1]

हमें आवश्यकता इसकी है कि निजी उद्योग में शासनतंत्र की निर्हस्तक्षेपी नीति और निजी लाभ उपार्जित करने के दैवी अधिकार के बदले जन-साधारण के हित की दृष्टि से व्यक्तियों और समूहों में बुद्धिमत्तापूर्वक काम का बंटवारा किया जाय। यदि हम चाहते हैं कि समाज व्यक्तिगत जीवन का नियंत्रण करे और उसका उपर्युक्त परिणाम हो, तो हम केवल गुप्तचरों और पुलिस पर अवलम्बित नहीं रह सकते कि वे नागरिकों की निगरानी करते रहें। हमें आध्यात्मिक जीवन का निर्माण

---

१. गीता, १८-४५-४६

करना होगा, जिससे कर्त्तव्य-पालन में आनन्द होता है, जो अन्दर से नियम का काम करता है और जिससे शासन-तंत्र द्वारा निर्धारित नियमों का पालन सरल हो जाता है। वेदान्त में भारत की स्मरणातीत परम्पराओं में ओत-प्रोत एक ऐसी शिक्षा उपलब्ध है, जो नई और अधिक न्यायपूर्ण जीवन-व्यवस्था का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार बन सकती है।

वेदान्त और वेदान्त-सम्मत जीवन-पद्धति क्या है ? आगे के पृष्ठों में इसे संक्षेप में तथा यथासंभव सरल शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया गया है। इससे पाठक स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि यहां उपस्थित किया हुआ दावा सही है अथवा नहीं।

२

वेदान्त का स्रोत

"समस्त संसार मेरे विरुद्ध खड़ा हो जाय; कलंक और उपहास की मुझ पर वर्षा हो; मेरी समस्त मूल्यवान सम्पत्ति चली जाय और मैं अपनी जीविका के लिए द्वार-द्वार अलख जगाता फिरूं, मेरे मित्र ही मेरे विरुद्ध हो जायं और मेरे भोजन में विष मिला दें; घातक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित और व्यूह-बद्ध अनेक मनुष्य मुझ पर आक्रमण करें; स्वयं आकाश टूट कर मेरे सिर पर गिर पड़े—मेरे हृदय में कोई, कोई भय नहीं है"—इस प्रकार का गीत तमिल कवि भारती ने वेदान्त से उत्पन्न होने वाली निर्भयता को लक्ष्य करके गाया है।

वेदान्त भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत है। यह भूतकाल में उसका मूल स्रोत रहा है और अब भी है। भारत के स्त्री-पुरुषों ने जिस साहस, शौर्य, आत्मबलिदान और महानता का परिचय दिया, वह सब-का-सब वेदों के दर्शनशास्त्र, वेदान्त से प्रवाहित हुआ। अब भी वेदान्त ही भारतीयों का जीवित-जागृत भाव और उनकी प्रतिभा है। विदेशी सभ्यता अथवा नई महत्त्वाकांक्षाओं का हम पर कितना ही प्रभाव पड़ें, हमारे मुख्य स्रोत में सड़न उत्पन्न नहीं हुई। धनी और निर्धनों के, अवकाशभोगी वर्गों और किसानों तथा मजदूरों के, हिन्दुओं और मुसलमानों तथा ईसाइयों के, अशिक्षितों और विद्वानों के,

ईमानदारों और बेईमानों के जीवन भारतीय दर्शन के व्यापक सौरभ से एक समान सुरभित हैं। वेदान्त भारत की मूल संस्कृति है।

उपनिषद् वेदान्त के स्रोत हैं। प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करते समय हमें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वे कल ही लिखे हुए ग्रन्थों के समान होंगे। जब वे लिखे गए थे, उस समय संसार, यह देश और मनुष्यों का जीवन तथा स्वभाव आज से बहुत भिन्न थे। हमें इस भारी अन्तर को भूलकर हजारों वर्ष पूर्व लिखित ग्रन्थों का अर्थ और निर्णय आधुनिक विवादों की दृष्टि से नहीं करना चाहिए। उस काल में लिखित पुस्तकों का सम्बन्ध तत्कालीन जीवन के विषयों से ही हो सकता है। हमें अपनी कल्पना और बुद्धि से उस प्राचीन जीवन का पुनर्निर्माण करना चाहिए और भारतीय ऋषियों के लिखे हुए ग्रन्थों को, यद्यपि वह अब आधुनिक कागज पर आधुनिक ढंग से छाप दिये गए हैं, उसी प्राचीन भूमिका के आधार पर पढ़ना चाहिए।

उपनिषदों की मुख्य शिक्षा यह है, "मनुष्य इन्द्रिय-सुख, सम्पत्ति तथा संसार के पदार्थों से, अथवा वेदों द्वारा नियत यज्ञादि कर्मों से—जिनकी शक्ति पर उस काल में पूर्ण विश्वास किया जाता था—स्वर्गादि के अधिक बड़े सुख प्राप्त कर लेने पर भी, स्थायी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। सुख केवल मुक्ति से, और मुक्ति केवल आध्यात्मिक ज्ञान से प्राप्त हो सकती है, जो कर्म-बंधनों को तोड़कर हमें परमात्मा के साथ मिला देता है।"

ज्ञान के मार्ग में अनेक मंजिलें हैं। उपनिषदों के मंत्र यत्र-तत्र परस्पर-विरोधी दिखलाई पड़ सकते हैं; परन्तु यदि यह स्मरण रक्खा गया कि सत्य की शिक्षा अंश-क्रम से दी जाती

है तो वह विरोधाभास तिरोहित हो जायगा। जब उपनिषद् लिखे गये, उस समय मौखिक शिक्षा के अतिरिक्त, जिसे शिष्य गुरु के निकट साहचर्य से रहकर प्राप्त करता था, अन्य किसी प्रकार की शिक्षा का प्रचार नहीं था। पुस्तकालय से लेकर अथवा दूकान से खरीद कर पुस्तकें पढ़ना उस समय संभव नहीं था।

वेदान्त में शिव अथवा विष्णु की उपासना के पृथक् पंथ नहीं हैं। कौन बड़ा देव है या किस नाम से परमात्मा की उपासना करनी चाहिए—इन प्रश्नों का विवाद वेदान्त में नहीं पाया जाता। शंकराचार्य ने अपने वेदान्त-भाष्य में परमात्मा के लिए 'नारायण' नाम का प्रयोग किया है। शैव सिद्धान्त के ग्रंथों में परमतत्त्व को 'शिव' कहा गया है। नाम, ध्यान के लिए परमेश्वर के रूप में कल्पनाएं, पूजा की मूर्तियां और 'ॐ' की ध्वनि भी हमारे हृदय को ईश्वर के प्रति आकर्षित करने के साधन-मात्र हैं। वेदान्त हम सब भारतीयों की—चाहे हम किसी भी धर्म में पालित-पोषित क्यों न हुए हों—परम्परागत सामान्य सम्पत्ति है।

३

पहली सीढ़ी

वेदान्त यह शिक्षा नहीं देता कि हमें संसार का त्याग करना चाहिए। जीवन तथा सामाजिक कार्यों से निवृत्त होने के साथ वेदान्त की संगति बैठाना गलत है। वेदान्त आसक्ति, कामनाओं और मनोविकारों के त्याग की प्रेरणा देता है, परन्तु सहकारी जीवन में दैनिक कर्त्तव्यों के त्याग की नहीं।[1] वेदान्त हमें आत्मशक्ति प्रदान करता है, जिससे हम स्वार्थपरता, अहं-भाव, सुख के प्रति आसक्ति और दुःख के प्रति भय से निवृत्त हो सकते हैं और अपना जीवन अपने कर्त्तव्यों को कुशलतापूर्वक करने में लगा सकते हैं। वेदान्त से हम सत्यमय जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न में निश्चय और निर्भयता का विकास कर सकते हैं।

इस दृढ़ विश्वास पर पहुंचना वेदान्त की पहली सीढ़ी है कि 'मैं' 'अपने शरीर' से बिल्कुल भिन्न हूं। क्या ऐसी कोई स्पष्ट वस्तु है, जिसे शरीर के अन्दर 'आत्मा' कहा जा सके? क्या वह भौतिक शरीर से बिल्कुल अलग है, या शरीर का कर्म मात्र है, जिसे हम गलती से पृथक वस्तु मानते हैं? क्या शरीर की मृत्यु होने पर उसके साथ आत्मा की भी होमृत्यु

१. गीता, ३-२०-२६

जाती है या उसका पृथक्‌ अस्तित्व बना रहता है ? इस विषय में दृढ़ विश्वास का अभाव ही संसार की सब बुराइयों का चरम कारण है। यदि कभी हमारी शंकाओं का समाधान हो जाता है, तो भी वे बार-बार उठती हैं और हमें घेरे रहती हैं। मनुष्य का जीवन तभी अविचल सत्यमय और अनासक्त होता है, जब वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मेरे अन्तस्‌ में आत्मा का निवास है और वह शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न है। यदि सब मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त कर लें तो संसार का उद्धार हो जायगा।

आत्मा संबंधी यह प्रथम ज्ञान महत्वपूर्ण है। इसीलिए उपनिषदों में न केवल परमात्मा की चर्चा है, वरन्‌ बारंबार और अनेक तथा विविध प्रकारों से जीवात्मा की भी चर्चा की गई है। यदि एक बार अनुभव कर लिया गया कि शरीर उसके अन्दर निवास करने वाले जीवात्मा से भिन्न है, और इस संबंध में सारे संशय मिट गये, तो वेदान्त-सम्मत जीवन स्वयमेव विकसित हो जायगा।

•

४

अच्छा जीवन

हमें अपने अन्तरतम में छिपे हुए आत्मा को देखना चाहिए। यहां 'देखने' का अर्थ संशय का पूर्ण निवारण और सत्य की पूर्ण अनुभूति है। आत्मा को 'देखने' के लिए बुद्धि और जिज्ञासा पर्याप्त नहीं है। जीवन की साधुता और पवित्रता आवश्यक है।[1]

सन्त और पापी को दीवार या पहाड़ी समान रूप से दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार ज्यामिति के प्रमेय में सत्य भी दिखलाई पड़ता है। फिर आत्मा को देखने के लिए आत्म-संयम और मानसिक समत्व की आवश्यकता क्यों है? ज्ञान के लिए गुरु का मार्गदर्शन और प्रतिक्षेपण आवश्यक हो सकता है; चरित्र के दोषों से उसका क्या संवंध? इसी प्रश्न का उत्तर वेदान्त के सवसे महत्त्वपूर्ण अंग का संघटक है।

आत्मा शरीर के स्थूल अंगों अथवा इन्द्रियों के समान नहीं है। वह शरीर के किसी विशेष भाग में स्थित भी नहीं है। वह स्थूल शरीर और मन में ओतप्रोत है। जबतक मन स्वच्छ नहीं है, वह उससे अलग नहीं मालूम होगा और न ज्ञात ही होगा। किसी बाह्य वस्तु को देखना एक बात है, परन्तु शरीर

---

१. कठोपनिषद्, २-२३, २४

के अन्दर छिपे हुए और उसमें ओतप्रोत आत्मा को देखना बिल्कुल भिन्न है। आत्म-निरीक्षण से हम अपने मन का विश्लेषण कर सकते हैं, परन्तु आत्मा को देखने के लिए न केवल अपनी आंखों को अन्दर की ओर घुमाने, वरन् मन को स्थिर तथा विकाररहित करने की भी आवश्यकता होती है। पवित्रता और अलिप्तता के बिना माध्यम मलिन रहता है और उसके पृष्ठ की वस्तु दिखलाई नहीं पड़ सकती। हमारी दृष्टि को अंध बनानेवाला अज्ञान नहीं होता, कामनाएं और आसक्तियां होती हैं। इस सत्य का अनुभव कर लेने पर ज्ञात हो जायगा कि अन्तर्निहित आत्मा के साक्षात्कार के लिए सदाचारी जीवन तथा पवित्र हृदय की आवश्यकता क्यों होती है। तब यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि वेदान्त के श्रद्धा-प्रेरित भाष्यों में जिन तीन मार्गों को सामान्यतः भिन्न माना गया है, वे सब एक ही हैं। इन मार्गों को ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, और कर्ममार्ग कहा जाता है।

तो, अपने अन्तर्निहित आत्मा का शरीर से भिन्न रूप में साक्षात्कार करने के लिए मन और आत्मा पर उचित नियंत्रण करना आवश्यक है। हमारी बुद्धि विकार तथा कामनाजन्य मोह से मुक्त होनी ही चाहिए। निरन्तर सावधान रहने से मन और इन्द्रियों पर ज्ञान का नियंत्रण हुए बिना रह नहीं सकता।[1] इस स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न 'योग' कहलाता है। यह नाम तो बहुधा लिया जाता है, परन्तु इसका अर्थ बहुत गलत समझा जाता है। यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाय, तो हम अपने अन्तर्निहित आत्मा को देख सकते हैं। आत्म-संयम और आन्तरिक शान्ति से उत्पन्न होने वाली मन

---

१. कठोपनिषद्, ४-१, २

की स्थिति को सावधानी से कायम रखने की आवश्यकता होती है। 'योग' कहलाने वाली मन की यह स्थिति सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समान बार-बार उदित तथा अस्तंगत होती है। योग का मार्ग निरंतर साधना और अभंग सतर्कता है, अन्यथा, हम फिर से पहली अवस्था में पहुंच जाते हैं और हमारी आत्मा शरीर में खो जाती है और हम पहले के समान एक को दूसरा समझने लगते हैं।

५

विकास

छान्दोग्य उपनिषद् का छठा अध्याय इस पुरानी पहेली से प्रारम्भ होता है : क्या कोई आदि कारण था ? क्या यह देखकर कि कारणों की गवेषणा हमें उनकी एक अनन्त शृंखला में पीछे ले जाती है, हम कारण का सिद्धांत ही छोड़ दें और कहने लगें कि जगत् शून्य से ही उत्पन्न हुआ है ?

ऋषि का कथन है—यह नहीं हो सकता। शून्य से शून्य ही निकल सकता है। असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए, हमें मानना ही पड़ेगा कि कारणरहित प्रारम्भ में आदि-कारण सत्, अर्थात् चिन्मय परमात्मा, अवश्य था। और सत् ने विस्तार की इच्छा की और वह प्रकाश, जल तथा अन्य जीवधारियों के रूप में परिणत हो गया। ये जीवधारी एक-दूसरे के आहार हैं और बढ़ते तथा बहुगुणित होते रहते हैं। सत् ही अब भी बहुगुणित और विस्तृत हो रहा है।

श्वेतकेतु ने अपने पिता उद्दालक से, जो उसे शिक्षा दे रहे थे, पूछा, "यह बहुसंख्य, विविधतामय, विशाल विश्व इतनी सरल रीति से कैसे उत्पन्न हो सकता है ?"

"उस न्यग्रोध वृक्ष का एक फल ले आओ।" उद्दालक ने कहा।

"यह लीजिए।" श्वेतकेतु बोला।

"उसे फोड़ो। उसके अन्दर तुम्हें क्या दिखलाई पड़ता है ?"

"छोटे-छोटे कुछ बीज।" श्वेतकेतु ने उत्तर दिया।

"एक बीज को फोड़ो।" पिता ने कहा।

"फोड़ लिया, भगवन्।"

"उसमें क्या दिखलाई देता है?"

"कुछ नहीं।" श्वेतकेतु ने उत्तर दिया।

"इस छोटे से बीज की जिस अणिमा को तुम नहीं देखते, उसमें ही इस विशाल न्यग्रोध वृक्ष का अस्तित्व था। तुम्हें इस पर आश्चर्य होता है? इसी के समान, इस विश्व में जो कुछ भी है वह सब सत् में था; जो, सौम्य, तुम भी हो। इस पर विचार करो।"

मुंडक उपनिषद्[1] में ऋषि कहते हैं।

"समस्त जगत् आदिपुरुष का विराट स्वरूप है। सूर्य, चन्द्र, दिशाएं, सम्पूर्ण ज्ञान और सब प्राणियों के आत्मा एकमेव, सर्वान्तर्यामी परमात्मा के अंश और उसके प्रत्यक्षीकरण हैं। सम्पूर्ण प्राणशक्ति, समस्त गुण, स्वाभाविक कार्य तथा विहित कर्म उसी एक शक्ति के फलस्वरूप हैं। उसने सूर्य को प्रज्वलित किया, इसीलिए सूर्य समिधा के समान जलता रहता है और हमें उष्णता तथा प्रकाश प्रदान करता है। मेघ स्वयं वर्षा नहीं करते, वरन आदिकारण-रूप परमात्मा ही मेघों के द्वारा बरसता है। प्राणियों का संयोग होता है और वे बहुगुणित होते हैं, परन्तु उनके द्वारा आदिकारण ही बहुगुणित होता है। पर्वत, समुद्र, नदियां, वृक्ष, औषधियां और उनके प्राणदायी तत्त्व—सब उसी सर्वव्यापी और अन्तर्यामी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। सौम्य, इसे जान और अपनी अज्ञानग्रन्थि को खोल।"

---

१. मुंडकोपनिषद्, २, ४, ५, ६, १०

६

माया

हमने वेदान्तियों को कहते सुना है कि यह जगत् मिथ्या है। इसका अर्थ यह नहीं कि जगत् सत्य नहीं है। वह सत्य है। ब्रह्म और माया के संबन्ध में उपदेश देनेवाले सब आचार्यों ने अपना जीवन इस आधार पर ही व्यतीत किया है कि, जगत् सत्य है। दुर्बलों और पाखंडियों को छोड़कर, जो एक बात सिखाते हैं और दूसरी पर आचरण करते हैं, यदि हम सत्य के प्रकाश में जीवन बितानेवाले वस्तुतः साधु और महान वेदान्तियों के प्रत्यक्ष जीवन पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि उन्होंने इस जगत्, जीवन और कर्म-विधान को कठोर तथ्य माना है। यदि इस पर भी उन्होंने शिक्षा दी कि सबकुछ मिथ्या हैं तो इस उपदेश का अर्थ क्या है ?

जब कहा जाता है कि परमात्मा ही सबकुछ है, तो अर्थ यह होता है कि वह अन्तर्निवासी चैतन्य है, जो सब प्राणियों को जीवित रखता है। जिस तरह शरीर के लिए आत्मा हैं, उसी तरह परमात्मा सब आत्माओं का आत्मा है जब कोई कहता है, "मैं गया", "मैं आया", "मैंने किया", तो यह बाह्य रूप से शरीर का काम होता है; परन्तु यथार्थ में यह सब अंतर्निवासी देही का काम है, जो सब कर्म कराता है। शरीर को कर्ता मानना गलत होगा। इसी प्रकार, परमात्मा हमारी आत्माओं

का आत्मा है। जीवात्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति परमात्मा की प्रवृत्ति है। सब आत्माओं को उसका शरीर कहा जा सकता है। परमात्मा सत्य है और, इसी प्रकार, उससे ओतप्रोत आत्मा भी सत्य है। शरीर भी सत्य है, यद्यपि अन्तर्निवासी चैतन्य ही उसे जीवन प्रदान करता है। एक कदम और आगे जायं तो, जो जीवात्माओं को प्राण और वास्तविकता प्रदान करता है और उन्हें जो-कुछ वे हैं, सो बनाता है, वह परमात्मा है। परमात्मा सब जीवात्माओं में ओतप्रोत रहता है और उन्हें धारण करता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जीवात्मा असत्य है। विश्व अपने समग्र रूप में, और प्रत्येक जड़ तथा चेतन अलग-अलग, सर्वव्यापी परमात्मा का शरीर है।

मायावाद का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक वस्तु असत्य है और हम अपनी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए स्वतंत्र हैं। जीवन सत्य है और वह अधिकारी, सनातन नियम के अधीन है। यह, न कि असत्य, वेदान्त के सिद्धांत का सच्चा गर्भितार्थ है।

७

सबमें एक ही जीवन

सो, शरीर के अन्दर आत्मा, जो उसे जीवन से परिपूरित रखता है और आत्मा के अन्दर परमात्मा, जो उसमें ओतप्रोत रहकर उसे अस्तित्व प्रदान करता है—यही वेदान्त के अनुसार जीवन की रचना है। जिस प्रकार आत्मा शरीर को व्यक्ति के रूप में काम करने का सामर्थ्य देता है उसी प्रकार परमात्मा आत्मा को जीवात्मा के रूप में काम करने की क्षमता प्रदान करता है।

एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न जीवनों में अनेक शरीर धारण करता है। ऐसा करने में उसे अतीत की स्मृति या अपने सच्चे स्वभाव का ज्ञान नहीं रहता। वह अपने तत्कालीन शरीर के साथ पूर्णतया एक हो जाता है। इसी प्रकार, एक साथ ही परमात्मा का निवास बनने वाले सब आत्मा परमात्मा को नहीं पहचानते और वह इस भांति प्रवृत्त रहते हैं, मानो सब एक-दूसरे से पृथक् हों। यद्यपि अन्तरात्मा एक ही है, प्रत्येक आत्मा पृथक् व्यक्तित्व का जीवन व्यतीत करता है और उसे दूसरों के साथ एकता का भान नहीं रहता। यही माया है। प्रत्येक विद्वान और निरक्षर में, वीर और कायर में, बली और निर्बल में, प्रतापी और दीन में तथा सब प्राणियों के समुदाय में परमात्मा ही निवास करता है और उन्हें, जो कुछ वे हैं, बनाता है। हमारा

अन्तर्निवासी आत्मा हमारी कामनाओं, अन्यमनस्कता, सुख और दुःख के कारण हमारी दृष्टि से ओझल रहता है। आत्मा हमारी बुद्धि के बिल्कुल परे हो जाता है। यद्यपि वह अपवित्रता की राशि के बीच में छिपा रहता है, फिर भी उस अपवित्रता का धब्बा उस पर नहीं लगता। यदि मन को एकाग्र, इंद्रियों को नियंत्रित और हृदय को बाह्य वस्तुओं से पृथक कर लिया जाय, तो अपवित्र चेतना पवित्र हो जाती है और हम आत्मा को शरीर से एक भिन्न और सच्ची वस्तु के रूप में देखने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, हम आत्मा के अन्दर निवास करने वाले दिव्य आत्मा को भी देखेंगे। जब यह पूर्णतया अनुभव कर लिया जाता है कि परमात्मा ही सबके अन्दर रहता और सब काम करता है तब सुख और दुःख का लोप हो जाता है।

सूर्य के प्रकाश का कोई आकार नहीं होता। वह सब दिशाओं में समान रूप से फैलता है। छाया का आकार होता है। छाया प्रकाश में अवरोध होने से पड़ती है। यदि मर्यादा का अवरोध न हो तो प्रकाश सर्वत्र समान रूप से फैलता है। जीवात्मा परमात्मा के अनन्त प्रकाश के मार्ग की छाया है। जैसे ही अवरोध दूर हो जाता है, छाया प्रकाश में मिल जाती है। कर्म छायाएं उत्पन्न करता है, जो पृथक जन्म और जीवन हैं। परमात्मा प्रकाश है। छाया जीवात्मा के अनुरूप आकार ग्रहण करती है।

इस दृष्टि से विचार करने पर किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि वेदान्त माया और मिथ्या की विचारधारा है। सूर्य के प्रकाश के कारण बनी हुई छाया मिथ्या नहीं है। वह प्रकाश के समान ही सत्य है, यद्यपि यह यथार्थ है कि परिवर्त्तनशील छाया का निर्माण प्रकाश से ही होता है।

८

मोक्ष

मोक्ष जीवात्मा द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार है। वह किसी दूसरे लोक अथवा स्थान में पहुंचना नहीं है। इस ज्ञान से मन के प्रकाशित हो जाने पर कि जीवात्मा और अन्तर्निवासी परमात्मा एक ही है, छाया प्रकाश में विलीन हो जाती है। यही मोक्ष है। समस्त भेदभाव को मिटाना और यह पहचानना ही मोक्ष है कि हमारे आसपास का सब कुछ परमात्मा का अधिष्ठान है। संस्कृत में 'मोक्ष' शब्द का अर्थ केवल छुटकारा है। मोक्ष एक अवस्था है। वह कोई स्थान, भवन, उद्यान अथवा लोक नहीं है। इसलिए तमिल सन्त ने गाया है :

"सत्य-पथ की यात्रा करने से परिशुद्ध हो जाने पर, इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके चित्त को असीम ब्रह्म के ध्यान में लीन कर देने पर, सब सुख और दुःख छिन्न हो जाते हैं, और आसक्ति नष्ट हो जाती है। यही स्वर्ग है। यही स्वर्ग का आनन्द है।

"ज्ञान प्राप्त करके, सब आसक्तियां त्यागकर, यदि कोई निश्चिन्त होकर सम-चित्त बन जाता है, तो वही मुक्ति है। वही परमानन्द है।"

इसे न जानकर संसार अज्ञानपूर्वक पूछता है—

'स्वर्ग कहां है ? स्वर्ग कहां है ? परमानन्द कैसा होता है ?' और, अपने-आपको अनन्त भ्रान्ति में खो देता है।

शरीर, आत्मा और परमात्मा का पारस्परिक संबंध बताने की पद्धतियों में भेद है। परमात्मा हमारी समझ में नहीं आता, इसलिए हमारे महान आचार्यों ने निरूपण की अनेक पद्धतियों का अवलंबन किया है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

आत्मा शरीर को जीवित शरीर का गुण प्रदान करता है। परमात्मा जीवात्मा को दिव्य तेज देता है। जीवात्मा शरीर में प्राणों का पोषण करता है। परमात्मा जीवात्मा के दैवी स्वभाव का पोषण करता है। जिस प्रकार इस मर्त्य जीवन में शरीर और आत्मा एक सुखमय साम्राज्य में रह सकते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा के सुखमय साम्राज्य में रहे और उसमें कोई अपूर्णता, अज्ञान अथवा अन्यमनस्कता न हो, तो यही मोक्ष है। परमात्मा का यह साम्राज्य प्राप्त करने के लिए जीवन की पवित्रता तथा आत्मसंयम आवश्यक है।

इसे हम दूसरी दृष्टि से भी समझ सकते हैं। जीवात्मा परमात्मा की छाया-मात्र है। अज्ञान छाया का और इस धारणा का कारण हैं कि छाया अपने आपको उत्पन्न करने वाले से भिन्न है। पार्थक्य का यह भाव कामना, आसक्ति, क्रोध और द्वेष से उत्तरोत्तर बढ़ता है। मन के जागृत होने पर दोनों एक-दूसरे में मिल जाते हैं।

सूर्य जल पर चमकता है। जब जल में लहरें उठती हैं तो हमें उसमें अनेक छोटे-छोटे सूर्य दिखलाई पड़ते हैं। जीवात्मा जल में सूर्य के प्रतिबिम्बों के समान हैं। जल न हो तो प्रतिबिम्ब

भी न होंगे। इसी प्रकार अज्ञान के मिटने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाता है। अज्ञान मिटाने और ज्ञान प्राप्त करने के लिए पवित्रता, आत्म-निग्रह, भक्ति और विवेक की आवश्यकता होती है।

जिस तरह रात्रि को सो जाने पर पांचों इन्द्रियां आत्मा में विलुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयुक्त आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है।

विभिन्न मतों—द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के दार्शनिकों ने उपर्युक्त तथा अनेक अन्य प्रकारों से विषय का प्रतिपादन किया है। उनकी विवेचन पद्धति में अन्तर भले ही हो, परन्तु उन सबने एक ही वेदान्त-सम्मत जीवन का निर्देश किया है, और वेदान्त-सम्मत जीवन ही मोक्ष का मार्ग है। वेदान्त के सब मतों का निष्कर्ष एक ही नीति-शास्त्र है और इससे सब वेदान्ती एक ही विचारधारा में आबद्ध हो जाते हैं।

६

वेदान्त का नीति-शास्त्र

जीवात्मा और परमात्मा का संबन्ध समझ लेने पर हमारे मन में विभिन्न प्राणियों के बीच भिन्नता का भाव नहीं रह जाता। भिन्नता के भाव से मुक्त होना जानकारी प्राप्त करने की क्रिया नहीं है, वरन् अवस्था का परिवर्तन है, निद्रा से जागरित होने के समान है। एक मनुष्य स्वप्न देखता है। वह स्वप्न में जो कुछ देखता है, उससे उसे संताप होता है। वह इस संताप से कैसे बच सकता है? परिहार का एक ही मार्ग है—वह निद्रा से जाग जाय और समझ ले कि मैं स्वप्न देख रहा था। इसी तरह हमें आत्मा को मोह में डालनेवाली विलगता के भाव से जगाना चाहिए और अपने दुःखों से अपने आपको मुक्त कर लेना चाहिए। इसीलिए उपनिषद कहते हैं—"उत्तिष्ठत! जागृत! उत्तिष्ठत!"

अतएव यह अनुभव करना कि परमात्मा हमारे अन्दर है, अवस्था का वैसा ही परिवर्तन है, जैसा कि निद्रा से जागना। वह किसी से पूछ लेने भर से जानने योग्य ज्ञान-मात्र नहीं है—ऐसा कुछ नहीं है, जैसे कि कोई देखने वाला बता दे कि पास के कमरे में कोई व्यक्ति मौजूद है।

निद्रा से जागना सरल है; परन्तु सांसारिक जीवन की घोर निद्रा से जागना सरल नहीं है। हमारी मानसिक वृत्ति

पूर्णतया बदलनी चाहिए। सबसे पहले, जागने की इच्छा हृदय में व्याकुलता उत्पन्न कर दे। दूसरे, निरन्तर सतर्क रहा जाय। यह सतर्कता वैसी ही होनी चाहिए जैसी कि रस्सी पर खेल दिखलाने वाले नट की होती है। एक बार रस्सी पर अपना तोल साध लेने के बाद वह उस पर सो नहीं सकता। आन्तरिक और बाह्य बुद्धि का नियंत्रण, उचित आचार का तबतक दृढ़ता से पालन जबतक कि वह स्वाभाविक न बन जाय, अपने आत्मा को पवित्र तथा निर्मल अवस्था में रखना अनिवार्य है। भेद-भाव के जगत् में फिर जा पड़ने से अपनी रक्षा करने के लिए अपने मन पर सदा चौकसी रखना आवश्यक है।

अज्ञान से प्रेरित होकर हम अस्थायी सुखों को खोजते और उन्हें प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय करते थे। यदि हम उन्हें नहीं पाते या कुछ समय के लिए पाने के बाद उनसे फिर वंचित हो जाते हैं, तो हमारे हृदय में क्रोध, द्वेष और दुःख उत्पन्न होता है। उससे हमारा मूल अज्ञान और भी बढ़ता है। इससे 'मैं', 'मेरा', और 'मेरे लिए', आदि अहंकार की भावनाएं तथा मनोविकार उत्पन्न और प्रबल होते हैं। इस प्रकार हम सत्य से उत्तरोत्तर दूर हो जाते हैं। इस मार्ग से विमुख रहना और सत्य के अधिकाधिक निकट पहुंचने का निश्चित प्रयत्न करना मोक्ष का मार्ग है। पवित्रता और विनम्रता आवश्यक है। हमें अपने मन में विश्वास करना चाहिए कि परमात्मा हमारे अन्दर और हमारे चारों ओर विद्यमान है। साथ ही, समस्त जीवन की एकता पर मनन करने में सचाई के साथ चित्त लगाना चाहिए। विश्व की इसी एकता के सम्बन्ध में दक्षिण के राष्ट्रीय कवि भारती ने गाया है :

"काक और गोरैया मेरे सगे-सहोदर हैं, विस्तीर्ण समुद्र और पर्वत मेरे समाज हैं। जो कुछ भी मैं देखता

हूं, जहां कहीं भी मेरी दृष्टि जाती है, वह सब मेरे ही बन्धु-बांधव हैं; स्वयं मैं हूं। अह! यह असीम आनन्द!"

यदि पूर्ण प्रकाश की उपलब्धि न हो, तो भी प्रयत्न में शिथिलता नहीं आनी चाहिए। सत्य का आंशिक साक्षात्कार होने पर भी हमें बहुत लाभ होगा। प्रयत्न ही बहुत हद तक हमारे दोषों का निवारण कर देगा, और सदाचार में तथा अनेकानेक पाप-कृत्यों से बचने में हमारा सहायक होगा। विश्व की एकता का अनुभव करने का मानसिक प्रयत्न ही हमें उच्चतर स्तर पर उठा देगा।

१०

कर्म-विधान

शरीर एक उपकरण, सुन्दर उपकरण, जादू भरा उपकरण है, जिसके साथ उसका स्वामी आत्मा विलक्षण रीति से अभिन्न हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा का उपकरण है। परमात्मा उसके अन्दर निवास करता है और उसका उपयोग करता है—किस हेतु से और क्यों, सो हम न जान सकते हैं और न कह सकते हैं। यह एक रहस्यमय संबन्ध है, जिसमें उपकरण और उसका उपयोगकर्ता दोनों अविलग रूप से आवद्ध हैं। शरीर और उसकी सूक्ष्म इन्द्रियों को अपने स्वामी आत्मा के प्रति निष्ठाहीन नहीं होना चाहिए, वरन् अच्छे उपकरणों के रूप में उसके काम आना चाहिए। इसी भांति, व्यक्ति को भीं परमात्मा का, जो उसके अन्तस् में निवास करता हैं, अच्छा और विश्वस्त उपकरण बनना चाहिए और प्रत्येक कर्म, विचार और वाणी उसे समर्पित करनी चाहिए।

कर्म शरीर, वाणी और मन से किये जाते हैं। प्रत्येक कर्म का नियत परिणाम होता है। कारण-कार्य-विधान अपरिवर्त्तनीय है। परिणाम कारण में वैसे ही निहित रहता है, जैसे बीज में वृक्ष। पानी को सूर्य सुखा देता है। यह अन्यथा नहीं हो सकता। उष्णता और पानी के मिलने से परिणाम होगा ही। यही बात सबके साथ है। परिणाम कारण के गर्भ में

रहता है। यदि हम गंभीरता से विचार करें, तो सम्पूर्ण जगत् अपने विविध अंगों में कर्म के अपरिवर्त्तनीय नियमों के अनुसार विकसित होता दिखलाई पड़ेगा। वेदान्त में कर्म के इसी सिद्धांत का निरूपण किया गया है। कर्म पर भाग्यवाद की दृष्टि से विचार करना गलत है। वेदान्त में भाग्य का जैसा विवेचन किया गया है, उसके अनुसार, उसमें कर्म-त्याग और प्राकृतिक नियमों पर श्रद्धा का भंग निहित नहीं है। कर्म पूर्व-कारणों का परिणाम है, वह परिणाम का अटल नियम है। पश्चिम के मूर्तिपूजामूलक दर्शनशास्त्रों से जिस भाग्यवाद का उदय हुआ है, उसमें और वेदान्त में यही अन्तर है।

जब कोई हिन्दू भाग्य-लेख की बात करता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य को केवल अपने कर्मों के फल की अपेक्षा करनी चाहिए। कोई कर्म व्यर्थ या परिणामहीन नहीं हो सकता। कर्म करना और उसके परिणाम से बच जाना, या किसी ऐसे परिणाम की आशा करना जो किसी दूसरे कर्म से हो सकता है, सम्भव नहीं है। निश्चित कर्मों का उनके अनुरूप परिणाम होना अनिवार्य है। इस प्रकार, कर्म के विधान से सच्चा कर्म-स्वातंत्र्य उत्पन्न होता है।

हम मन, वाणी और शरीर से कर्म करते हैं। हमारे विचार, वाणी और कर्म—सब अपना-अपना फल देते हैं। उनके फल से बचा नहीं जा सकता।

जब कोई वेदान्ती कहता है कि प्रत्येक घटना कर्म के अनुसार होती है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि ज्ञान और मानवीय प्रयत्न व्यर्थ हैं और मानवीय कर्मों का कोई महत्व नहीं है। कहा है, "हाँ, मैं मानता हूं कि यह विधि है। यह न्याय की विधि है कि अज्ञानी को आनन्द प्राप्त नहीं होता। यह न्याय की विधि है कि आरोग्य के नियमों की उपेक्षा करने

से रोगों की यातनाएं सहनी पड़ती हैं।" उद्योग और आचार का पुरस्कार मिलेगा ही और कर्म-विधान रूपी अधिकार-पत्र इस पुरस्कार को सुरक्षित रखता है।

प्रत्येक घटना का कारण तो होता ही है, परन्तु किसी घटना के कारण को न समझने पर हम उसे भाग्य का फेर अथवा संयोग परिणाम मानने लगते हैं; परन्तु इस नामकरण का अर्थ परिणाम से दुःखी होने और कारण खोज निकालने में अपने बुद्धि-प्रयोग की असफलता स्वीकार करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भाग्य के लिए साधारणतः उपयोग में आने वाले शब्द 'अदृष्ट' का अर्थ, जो दिखलाई नहीं पड़ता, होता है। वास्तव में, उसके बारे में इतना ही बस है। उनका यह अर्थ नहीं होता कि वह नियम के अधीन नहीं है, वह केवल पहले देखा नहीं गया।

हम किसी सिद्धांत की सहायता के बिना भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक अच्छे या बुरे विचार अथवा कर्म का हमारे ऊपर तुरन्त परिणाम होता है। यह परिणाम दूसरों पर अथवा बाह्य जगत् पर होनेवाले परिणाम के अतिरिक्त होता है। कोई चाहे या न चाहे, उसके मन की प्रत्येक वृत्ति उसके चरित्र पर अमिट छाप डाल देती है और उसके चरित्र का विकास उसी के अनुसार अच्छा या बुरा होता है। यदि मैं आज बुरा विचार करूं तो कल अधिक तत्परता और आग्रह से वैसा करूंगा। यही बात अच्छे विचारों के बारे में भी है। यदि मैं आत्म-निग्रह करता हूं या शान्त होने का प्रयत्न करता हूं तो अगली बार यह क्रिया अधिक स्वयं-स्फूर्त, अधिक सरल, हो जायेगी। यह क्रम उत्तरोत्तर प्रगतिपूर्वक जारी रहता है।

हिन्दू विचारधारा के अनुसार, इस जीवन में मनुष्य के विचारों, कार्यों और पश्चात्ताप से उसका जो चरित्र बन जाता

है वह शरीर का अन्त होने पर आत्मा के साथ संलग्न रहता है और उसकी दूसरी जीवन-यात्रा में आरम्भ से ही उसका साथी होता है। पूर्वजन्मों के कर्म, विचार और आसक्तियों के फल-स्वरूप हम कुछ निश्चित स्वाभाविक वृत्तियों के साथ नया जन्म ग्रहण करते हैं। भूत और भविष्य के जीवनों के और अनेक जीवनों में विकास का क्रम जारी रहने के सिद्धांत पर विश्वास ही कर्म के संबंध में भ्रम उत्पन्न करने वाला है।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण से, कार्य के संबंध में कोई स्पष्टीकरण अथवा उपपत्ति कठिनाइयों या आपत्तियों के परे नहीं हो सकती; परन्तु अमर आत्मा को व्यक्तित्व का आधार मानने पर हिन्दू कर्म-सिद्धांत की अपेक्षा प्रकृतियों के नियमों के अधिक अनुकूल कोई अन्य उपपत्ति स्थापित नहीं की जा सकती। मनुष्य ठीक अपने कर्मों के अनुसार ही अपना विकास करता हैं। विकास का क्रम मृत्यु से भंग नहीं होता, वह दूसरे जीवन में जारी रहता है। हिन्दू धर्म का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत शक्तिसंचय-नियम के नैतिक क्षेत्र में कार्यान्वित है। वास्तव में इन दोनों को एक ही नियम के दो अंग मानना चाहिए। कर्म आध्यात्मिक जगत में संचय का नियम है। कारण और कार्य समान होना ही चाहिए। मृत्यु से शरीर का, न कि आत्मा का, अंत होता है। अतएव, जहां तक आत्मा का संबंध है, कारण और कार्य का नियम शरीर का अन्त हो जाने के बाद भी कार्यान्वित रहता है। शरीर की मृत्यु से मनुष्य दिवालिया नहीं बनता। पुराना हिसाब आगे के जीवन में जारी रहता है।

छोटे से छोटा कंकड़ फेंकने से भी पानी में लहर उठ आती है। वह लहर गोल-गोल घेरों में बराबर फैलती जाती है। हमारे सब विचारों और कार्यों का भी ऐसा ही परिणाम होता

है। मन में उत्पन्न हुआ अत्यन्त सूक्ष्म और गुह्य विचार भी विश्वशांति को प्रक्षुब्ध कर देता है और उस क्षोभ को शान्त करना आवश्यक होता है।

मनुष्य जिस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता है, उसके अनुसार उसके पूर्वकर्मों के बंधन घटते या बढ़ते हैं; परन्तु आत्मा स्वाभाविक वृत्तियों पर विजय पाने और मुक्ति के लिए प्रयत्न करने में समर्थ है।

> "मन! विजय निश्चित है, मिथ्या भय को त्याग दे। भक्ति अवश्य फल देगी। हमारे कंधे किसी भी काम के लिए सुविशाल और सुपुष्ट हैं। हमारी बुद्धि उचित इच्छापूर्ति के साधन निर्मित और एकत्र करने में समर्थ है। अपरिवर्त्तनीय नियम अपना काम करता ही है। इसलिए, तू मिथ्या भय को त्याग दे।"

आधुनिक तमिल कवि ने वेदान्त में प्रतिपादित मोक्षमार्ग के संबंध में उपर्युक्त आशय का अनुपम गीत गाया है। नियम मोक्ष को सुरक्षित करता है, न कि उससे वंचित करता है।

११

वेदांती का जीवन

गीता वेदान्त के नीति-शास्त्र का विस्तार और विवेचन करती है। वह जोर देती है कि जगत् का कार्य चलता ही रहना चाहिए। हमें इस प्रकार काम करना चाहिए कि उससे आने वाली पीढ़ियों का सुधार अनिवार्य हो जाय। भले मनुष्य जिस प्रकार अपने बच्चों और बच्चों के बच्चों के लिए वृक्षा-रोपण करते हैं, उसी प्रकार हमें—विभिन्न जन्मों की स्मृति में तारतम्य और व्यक्तितत्व में एकता न रहने पर भी—दूसरे जन्मों के लिए अपना सुधार करके मानव-जाति का सुधार करना चाहिए, अन्यथा संसार उत्तरोत्तर भला नहीं बने सकता, जैसा उसे बनाने के लिए हम सबको प्रयत्न करना चाहिए। साधु पुरुष को अपने को सौंपे गये कर्म और अपनी सामाजिक स्थिति से संबंध रखनेवाले कर्तव्य करना ही चाहिए। वह अपने सब कार्य बाहरी रूप से दूसरों के समान ही करता है, परन्तु अन्दर से उनके प्रति निर्लिप्त रहता है। वह प्रत्येक कार्य स्वार्थ के उद्देश्य से रहित होकर करता है। सफलता और असफलता, सुख और दुःख का आनन्द और अनुपात में वह मन का समत्व कायम रखता है। इस प्रकार परिशुद्ध होकर, साधु पुरुष ध्यान और प्रार्थना द्वारा अधिक उन्नति के योग्य बनता है। सांसारिक उलझनों के बीच इस प्रकार का

समर्पित जीवन व्यतीत करना ही योग है। कर्म कर्तव्य की भावना से करना चाहिए और परिणामों से मन को प्रक्षुब्ध नहीं होने देना चाहिए। जब हम अपने जीवन के कार्यों में बहुत अधिक व्यस्त हों तब भी यह निःस्वार्थ और अलिप्त भाव विकसित किया जाना चाहिए। इस भाव की सतत साधना ही वेदान्त-सम्मत जीवन का सार है।

ईशावास्य उपनिषद् इस प्रकार प्रारम्भ होता है :

"विश्व की प्रत्येक वस्तु परमात्मा में स्थित है। यह भली-भांति अनुभव करो और अपना प्रत्येक कर्म उसे समर्पित करो। मन में उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं का, दूसरे के भोग की वस्तु को प्राप्त करने के विचार का, त्याग करो। आनन्द कामना के इसी प्रकार के त्याग से प्राप्त होता है। अपना कर्म करो और अपने जीवन की नियत अवधि पार करो। अलिप्तता और समर्पण से ही आत्मा को अदूषित रखा जा सकता है; अन्यथा नहीं।"

गीता की शिक्षा का संक्षेप इस प्रकार किया जा सकता है :

"वेदान्ती सदैव स्मरण रखता है कि मेरे अन्दर और जगत् की प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का निवास है। वह अपने मन में काम, क्रोध और लोभ को आश्रय नहीं देता। वह जन्म, घट-नाओं और परिस्थितियों के फलस्वरूप अपने ऊपर आनेवाले या अपनी सामाजिक स्थिति से उत्पन्न होने वाले सब कर्त्तव्यों को पूर्ण सावधानी के साथ और सद्विवेक-बुद्धिपूर्वक, परन्तु अनासक्त होकर करता है। वस्तुतः किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों या समूहों के लिए नियत कर्मों में ऊंच-नीच भाव नहीं हैं। सब काम समाज के पोषण और कल्याण के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। वह सब निःस्वार्थ सहकार की भावना से किये जाने चाहिए, जिससे सब काम

उदात्त और समान बनते हैं।

"वह अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित करके शुद्ध जीवन व्यतीत करता है और अपने काम, भोजन, विश्राम, आमोद-प्रमोद तथा निद्रा को नियमित कर लेता है।

"कठिनताओं के सामने वह हतोत्साह नहीं होता और सुख प्राप्त हो या दुःख, अपना साहस और मानसिक समत्व कायम रखता है।"

चरित्र की इस नियमावली से चकित होकर कोई ऐसा विचार न करे कि यह साधारण व्यक्तियों के, जो सन्त या ऋषिमुनि नहीं हैं, किसी उपयोग की नहीं है।

"इस दिशा में थोड़ा-सा प्रयत्न भी अच्छा फल प्रदान करेगा। इसमें अपव्यय नहीं है। यह औषधियों के नियम के समान नहीं, जिसके अनुसार यदि उचित पथ्य न किया गया, तो न केवल औषधि गुण न करेगी, वरन् अवगुण भी कर सकती है। त्रुटियों और अपूर्णताओं से कोई भय नहीं है। यदि इस शिक्षा का पालन थोड़े प्रमाण में भी किया गया, तो उससे बहुत लाभ होगा।"[1]

प्रश्न किया जा सकता है: कोई बात भविष्य के जन्म में फलदायी होगी, यह कहने से उत्साह कैसे उत्पन्न हो सकता है? हम आगामी जीवन में पूर्वजन्म की स्मृति के बिना उत्पन्न होंगे। हमें अपने पूर्वजन्मों के सम्बन्ध में अभी कुछ स्मरण नहीं है, न इस जीवन की स्मृतियां आगामी जीवन में रहेंगी। इसलिए, हम अच्छे काम करें या बुरे, उससे क्या? हमें वर्तमान समय के सुख भोग लेने चाहिए। यदि मैं पुनः उत्पन्न हुआ तो मैं एक भिन्न व्यक्ति हूंगा और मुझे इस समय की कोई स्मृति

१. गीता, २-४०

न रहेगी। मेरे और उस व्यक्ति के बीच में क्या संबन्ध है? स्मृति के तारतम्य के बिना हम दोनों एक कैसे हो सकते हैं? उसके लिए मैं श्रम क्यों करूं? मृत्यु के साथ इस जीवन की स्मृतियों का अन्त हो जाता है। भावी जन्म के उद्देश्यों से इस जन्म में सदाचार और आत्मसंयम की साधना करने की वेदान्त की शिक्षाओं के संबन्ध में सुखान्वेषी इस प्रकार की आपत्ति कर सकता है।

परन्तु आत्मा को जो एक प्रकार की भूख होती है, वह स्वार्थपूर्ण और क्षणिक सुख से शान्त नहीं हो सकती। मनुष्य का स्वभाव है कि उसे सदाचार से आनन्द होता है। यह हम में से प्रत्येक की आन्तरिक भावनाओं के अनुभव से और समस्त लिखित तथा अलिखित इतिहास से पुष्ट हो चुका है। परिवार के सदस्य परिवार तथा ग्राम के हित के कार्य करते हैं। हम साधारण मनुष्यों को दूसरे के लिए, जिन्हें उन्होंने कभी देखा भी नहीं, केवल इस कारण से ही कष्ट सहते हुए देखते हैं कि वे उनके ही स्थान के निवासी हैं। मनुष्य अपने ग्राम या नगर के हित से उदासीन रहकर हाथ बांधे बैठे नहीं रहते। हम यह भी देखते हैं कि मनुष्य अपने स्वार्थ का बलिदान करके अपने राज्य की भलाई और देश की कुशलता के लिए कष्ट सहते हैं। हम नहीं जानते कि सड़कों के किनारे के वृक्षों की छाया का आराम किसे मिलेगा, फिर भी हम उन्हें लगाते हैं, जिससे भावी पीढ़ियों के लोग उनका सुख प्राप्त करें। इस प्रकार के सब कामों में हम आनन्द का अनुभव करते हैं। हमें इस उदारता की अधिक वृद्धि करनी चाहिए और समस्त जगत् के हित तथा भावी सुख का विचार करना चाहिए।

कार्य-कारण-विधान और भावी जन्मों पर उसके विस्तार के अनुसार, यदि हम वेदान्त-सम्मत जीवन व्यतीत करें तो दोषों

की वृद्धि बन्द हो जायगी और भावी जगत् में निवास करने वाले आत्मा उत्तरोत्तर उन्नति करते जायंगे। अतएव, सदाचार का उद्देश्य दुहरा है—स्वयं अपना सुख, और स्मृति का तारतम्य न रहने पर भी संसार की उन्नति में अपना योग। वेदान्त के अनुरोध का आधार भावी जगत् सम्बन्धी उत्तरदायित्व है। सामाजिक और नागरिक सहकार से मनुष्य के अपने ग्राम या नगर का स्थायी लाभ होता है। देशभक्ति हमारी भावी पीढ़ियों को लाभ पहुंचाती है। वेदांत का उद्देश्य भावी जगत् का, जिसके हम सब वर्तमान निर्माता हैं, कल्याण करना है। यदि हम अनासक्त और समर्पित जीवन व्यतीत करें तो, जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, संसार में अधिक साधु मनुष्यों का वास होता जायगा। विहित आचार के लिए, भावी जीवन में स्मृति का तारतम्य कायम रहने की अपेक्षा केवल वही करेंगे, जो अपनी स्वार्थवृत्ति का त्याग नहीं कर सकते।

१२

उपसंहार

वेदान्त यही है। सम्भव है, ऐसा मालूम पड़े कि हम कहीं-कहीं शुद्ध रहस्यवाद में भटक गये हैं, जिसका सामाजिक सदसद्विवेकबुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु सदसद्विवेकबुद्धि की जड़ों को गहरे प्रविष्ट होकर जीवन पर इस प्रकार अधिकार कर लेना चाहिए कि हमारे सूक्ष्मतम विचार सदाचार को स्वयंस्फूर्त बना दें। सदाचार हवा में झूलता नहीं रह सकता। परम सत्य की लालसा सच्चे लोगों को रहस्यवाद की ओर खींच ले जाती है। विज्ञान विश्व के जिस आतंक और सौन्दर्य का निरन्तर उद्घाटन कर रहा है, उसमें मग्न मनुष्यों का परमात्मा में असंस्कृत मानव-रूपारोपण से संतोष नहीं हो सकता। वेदान्त में निहित रहस्यवाद अच्छे जीवन का सम्बन्ध सत्य और विज्ञान के साथ जोड़ता है और संघर्ष के स्थान पर सुसंगठित तथा समन्वित विचार की प्रतिष्ठा करता है। O

उपनिषद्-सूक्त

उपनिषद्–सूक्त

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त स्वरूप से व्याप्त है। सब भूत मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

तथापि प्राणी मुझमें नहीं है—ऐसा भी कहा जा सकता है। मेरा योगबल तू देख। मैं सब भूतों का मूल और आधार होता हुआ भी उनमें स्थित नहीं हूं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

अपनी प्रकृति के द्वारा मैं भूत समुदाय को बारम्बार उत्पन्न करता हूं और उसे प्रकृति पर अवलम्बित रखता हूं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

मेरी साम्राज्य-योजना में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और जगत-चक्र को घूमता रखती है।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

भगवद्गीता, अध्याय ९।

हितकारी वस्तु (श्रेय) एक है और सुखकारी (प्रेय) दूसरी। इन दोनों से बिलकुल भिन्न फल प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान पुरुष सुखकारी के आकर्षण से धोखे में नहीं पड़ते। वे हितकारी को पसन्द करते हैं। मूर्ख निरे सुखकारी के जाल में फंसकर नष्ट हो जाते हैं।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ।।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ
संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।

—कठोपनिषद्

आत्म-साक्षात्कार मोक्ष का मार्ग है। मनुष्य को अपने अन्तर्निवासी परमात्मा पर चित्त एकाग्र करके अपने आत्मा के दिव्य स्वभाव और उसकी मूल स्वतंत्रता को समझना चाहिए। परमात्मा मनुष्य के अन्तस् में स्थित है। वह हर्ष तथा शोक की उलझनों और सांसारिक विषयों में आसक्ति के कारण दिखलाई नहीं पड़ता।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।

—कठोपनिषद्

साक्षात्कार तभी हो सकता है जबकि मनुष्य के हृदय के अन्दर से निश्चय की पवित्रता और भाव की सच्चाई प्रस्फुटित होने लगती है। बहुत अध्ययन से अथवा विद्वत्तापूर्ण चर्चाओं से उसकी उपलब्धि नहीं होती। वह उसे उपलब्ध होता है, जिसका आत्मा उसके लिए व्याकुल हो उठता है और जिसके मन ने बुराई छोड़ दी है, अपने को वश में रखना सीख लिया

है और अपने आपको जगत् के संघर्षों से मुक्त करके शक्ति की प्राप्ति कर ली है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम ।

—कठोपनिषद्

मन के द्वार, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियां बहिर्मुख होती हैं। इसीलिए मनुष्य के विचारों की प्रवृत्ति भी सदैव बाहर की ओर रहती है; परन्तु जिन थोड़े से लोगों को सच्चा ज्ञान होता है, वे अपने मन को अन्तर्मुख करके अपने अन्तःस्थित आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। अज्ञानी लोग वाह्य सुखों के पीछे दौड़ते और जन्म-मरण के विस्तृत जाल में फंस जाते हैं। स्थिर मनवाले मनुष्य क्षणिक सुखों का चिन्तन नहीं करते। वे मोक्ष का आनन्द खोजते हैं।

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः-
तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा-
वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

—कठोपनिषद्

पर्वत-शिखर पर बरसनेवाला जल अनेक धाराओं में विभाजित होकर पर्वत की चारों दिशाओं में बहता है, इसी प्रकार, अज्ञानी पुरुष एक के अनेक रूप देखता है और शिखर

पर गिरनेवाले जल के समान भ्रांत हो जाता है। पानी में डाला हुआ पानी उसके साथ मिलकर एक हो जाता है। यही बात ज्ञानी के आत्मा के संबंध में भी है, जो अनेक रूपों में एक रूप का दर्शन करता है।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति।।
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।।

—कठोपनिषद्

आत्मा शरीर में उसी तरह स्थित है, जैसे अग्नि काष्ठ में अप्रकट रूप से स्थित रहती है। अग्नि ईंधन के अनुसार रूप ग्रहण करती है। जहां कहीं भी वह प्रकट होती है, उसके अनुसार, कभी दीपक की लौ, कभी भट्टी की अग्नि और कभी दावानल का रूप धारण करती है। स्वयं अग्नि वह है, एक ही है। इसी प्रकार आत्मा भी एक ही है, यद्यपि विभिन्न शरीरों में स्थित होने के कारण वह अनेक प्रतीत होती है। जो यहां है वह वहां है; जो वहां है वह यहां है, अर्थात् वस्तुएं और प्राणी अनेक दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु वस्तुतः वे सब एक ही परमात्मा हैं। इस एकता का दर्शन कर लेने पर हम मुक्त हो जाते हैं; परन्तु यदि हम अन्तर देखते हैं तो हम मृत्यु से मृत्यु में फंसते जाते हैं, ज्ञान के ही द्वारा मन भेद-दृष्टि पर विजय प्राप्त करके अन्तर्भूत एकता का दर्शन कर सकता है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथां सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

—कठोपनिषद

जैसे भुवन में प्रविष्ट एक ही अग्नि रूप-रूप—पदार्थ-पदार्थ के प्रति तद्रूप हो रहा है, तदाकार दीखता है, ऐसे ही एक और सब का अन्तरात्मा—ईश्वर—वस्तु-वस्तु में साक्षी रूप में विद्यमान है और उनसे बाहर भी है। अग्नि से यहां तात्पर्य तेज से है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
मनसैवेदमवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

—कठोपनिषद्

विश्व की प्रत्येक वस्तु परमात्मा में स्थित है। इसका भलीभांति अनुभव करो और अनुभव करने के पश्चात् दूसरों के भोग की वस्तु को प्राप्त करने का विचार त्याग दो। आनन्द कामनाओं और आसक्तियों के त्याग से ही प्राप्त होता हैं। अपने जीवन के नियत वर्ष अनासक्त भाव से कर्म करते हुए और प्रत्येक वस्तु परमात्मा को समर्पित करके व्यतीत करो। केवल इस प्रकार ही हम कर्म के दोष से बच सकते हैं।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

—ईशावास्योपनिषद्

जो सोचता है कि मुझे सच्चा ज्ञान है, वह उसी के द्वारा अपना अज्ञान सिद्ध करता है; जो अनुभव करता है कि मैं परमात्मा को नहीं जानता, उसने उसे सबसे भलीभांति जाना है; जो लोग उसे साधारण ज्ञान की वस्तुओं के समान जानने

का प्रयत्न करते हैं, वे अपने लक्ष्य में कभी सफल नहीं हो सकते; जो परमात्मा के ज्ञान के संबंध में मानवीय मान की मर्यादा का अनुभव करते हैं और उसके द्वारा निष्कपट भाव से अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं, वे वास्तव में उसके सच्चे ज्ञान के अधिक निकट हैं।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ॥
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ न
मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥
यस्यामतं तस्य मतं,
मतं यस्य न वेद सः ॥
अविज्ञातं विजानतां
विज्ञातमविजानताम् ॥

—केनोपनिषद्

मनुष्य अपनी आत्मा की दिव्यता का साक्षात्कार करें। इसी के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है। परब्रह्म विश्व को धारण करता है। और विश्व व्यक्त, और अव्यक्त, नश्वर और अनश्वर की एकता पर निर्मित हुआ है। 'इन्द्रियों के द्वारा भोक्तृत्व में प्रवृत्त होकर मनुष्य का अन्तर्निवासी आत्मा अपने स्वामित्व का ज्ञान खो देता है और बंधन में जकड़ जाता है। जब वह स्वामित्व का अनुभव करता है, तब प्रत्येक बंधन से मुक्त हो जाता है।

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च,
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभवाज्,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

ईश्वर आत्मा पर और आत्मा की प्रवृत्ति का क्षेत्र बनने वाली भौतिक प्रवृत्ति पर भी शासन करता हैं। मनन और पुनः-पुनः ध्यान से इन तीनों—ईश्वर, प्रकृति और आत्मा—की एकता का साक्षात्कार होता हैं। तब मनुष्य जगत् की समस्त माया से मुक्त हो जाता। हैं

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावशिते देव एकः।
तस्याभिध्यांनाद्योजनात्तत्वभावाद्,भूयश्चान्तेविश्वमायानिवृत्तिः॥

 —श्वेताश्वतरोपनिषद्

अग्नि जब अपने जन्मस्थान ईंधन में छिपी रहती हैं तब वह अपने प्रकट रूप में दिखलाई नहीं पड़ती; परन्तु जब हम उसे बाहर निकालते हैं, तो वह प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार, ध्यान परमात्मा को हमारे अन्दर से, जहां उसने अपने-आपको छिपा रक्खा है, प्रकट करता है। वह परमात्मा हमारे अन्दर तिलों में तेल के समान, दूध में छिपे हुए घी के समान, नदी की रेत में छिपे हुए जल के समान, अरणि में छिपी हुई अग्नि के समान प्रकट न होने पर भी निवास करता है। जब अरणि में ईंधन के दो टुकड़ों का घर्षण किया जाता है, अग्नि प्रकट हो जाती हैं; दूध का दही बनाकर उसका मंथन करने से नवनीत अलग हो जाता हैं; नदी की रेत में गड्ढा खोदने से पानी दिखलाई पड़ता हैं; इसी प्रकार मनुष्य के अन्तस् में छिपा हुआ परमात्मा भी सत्य, ध्यान और मन तथा इन्द्रियों की नियंत्रणरूपी साधना से प्रकट होगा। मनुष्य अपने शरीर को नीचे की अरणि और ज्ञान को ऊपर की अरणि बनाये और ध्यान के द्वारा उनका मंथन करके अग्नि को प्रकट करे।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥

स्वोदेहमरणिं कृत्वा, प्रणवं चोत्तरारणिम ।
ध्यान निर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येन्निगूढवत् ।।
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोत:स्वरणीषु चाग्नि: ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ, सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यंति ।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

मनुष्य के हृदय में रहनेवाला ईश नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, वरन् हृदय से देखा जा सकता है और जो इस प्रकार उसे देखता है, वह अमरता प्राप्त करता है ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

इस समस्त महिमा का मूल कारण काल अथवा जड़ प्रकृति के गुण नहीं है, जैसा कि कुछ लोग कल्पना करते हैं, वरन् उस परमात्मा की विभूति है, जो सब चेतन और अचेतन जगत् में निवास करता है और उसे घुमाता रहता है। विश्व-व्यापी परमात्मा एक, निष्फल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरंजन है। अपने अन्दर उसका साक्षात्कार किये बिना जीवन के दुःख-दैन्य का अन्त असम्भव है। परमात्मा के अन्तर्यामीत्व का ज्ञान और साक्षात्कार प्राप्त किये बिना सुख प्राप्त करने की अपेक्षा आकाश को लपेटकर अपने शिर पर ले जाना—जैसे कि चमड़ा पकानेवाला अपने चमड़े को ले जाता है—अधिक सरल है।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्म चक्रम ।।
एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्ष: सर्व भूताधिवास: साक्षी चेतां केवलो निर्गुणश्च ।।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवनिलम् ।।
यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

पिता अथवा गुरु की प्रत्यक्ष शिक्षा आवश्यक है। इसके बिना केवल पुस्तक से प्राप्त ज्ञान बहुत उपयोगी न होगा। परन्तु सब के परे, यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि जो आचार परमसत्य बोध और साक्षात्कार के लिए नितान्त आवश्यक है, उसे पहले से ही शुद्ध किये बिना आध्यात्मिक शिक्षा से कोई लाभ न होगा।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

समस्त जगत् उसी विश्वव्यापी, निराकार, कारणरहित ब्रह्म का प्रत्यक्षीकरण और सृष्टि है। सूर्य, चन्द्र, सब दिशाएं, समस्त ज्ञान और सब भूतों में स्थित आत्मा इसी एक सर्वान्तर्यामी परमात्मा के अंश और प्रत्यक्षीकरण हैं। सम्पूर्ण जीवन और गुण, स्वाभाविक कार्य और विहित कर्म उसी एक शक्ति के रूप हैं। वही अग्नि है, जो सूर्य को अग्नि में ईंधन के समान प्रज्वलित रखता है। वर्षा स्वयं नहीं होती, वह परमात्मा ही है, जो मेघों के द्वारा बरसता है। प्राणी बहुगुणित होते हैं; परन्तु वह परमात्मा ही उनके द्वारा बहुगुणित होता है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषो चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष

सर्वभूतान्तरात्मा। तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमा-त्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्। पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः ।।

—मुण्डकोपनिषद्

पर्वत, समुद्र तथा नदियां, वृक्ष, औषधियां तथा उनके प्राणपोषक तत्त्व—सब उससे ही उत्पन्न हुए हैं। सोम्य! परमात्मा तेरे हृदय ही में निवास करता है, यह जानकर अज्ञान की सब ग्रंथियां खोल, जो तुझे यहां बांधे हुए हैं।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिंधवः सर्वरूपाः।। अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्त-रात्मा।। पुरुष एवेदं विश्वं, कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकरतीह सोम्यः।।

—मुण्डकोपनिषद्

परमात्मा ही समस्त जगत् है। स्वर्ग, पृथ्वी और आकाश, तुम्हारा जीवन और तुम्हारा प्राणवायु—सब उसी में ओतप्रोत हैं। वही एकमात्र सत् है। यह ज्ञान अमरत्व की ओर ले जाने-वाला सेतु है। शेष सब ज्ञान शब्दाडंवर-मात्र है, उससे बचना चाहिए।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैव सेतुः।।

—मुण्डकोपनिषद्

परमात्मा तुम्हारे हृदय में ही अधिष्ठित है। सम्पूर्ण जगत् और उसकी महिमा का धारण करनेवाला वही तुम्हारे अन्न-मय शरीर में निवास करता तथा उस पर और उसके जीवन पर शासन करता है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा संप्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ।।

—मुण्डकोपनिषद्

जब अपने अन्तस् में ही उसकी उपस्थिति का अनुभव कर लिया जाता है, तब सब संशय, सब आसक्तियां और सब प्रवृत्तियां तिरोहित हो जाती हैं। उसकी उपस्थिति का अनुभव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करना चाहिए।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

—मुण्डकोपनिषद्

परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर वैयक्तिक जीवन का क्या महत्त्व ? सूर्य और चन्द्र, तारे और मेघों की बिजली भी उसके सामने क्या है ? ये सब उसी एक ज्योतिर्मय के प्रतिबिम्ब-मात्र हैं। वह सब दिशाओं में परिपूरित है। एकमात्र वही सत् है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।ब्रह्मै वेदममृतं पुरस्चाद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वंच प्रसृतं ब्रह्मै वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।

—मुण्डकोपनिषद्

केवल विद्वत्ता से वह जाना नहीं जा सकता। उसे जानने के लिए मनुष्य को अनुभव करना होगा कि परमात्मा स्वयं प्राण और सब में प्रदीप्त ज्योति है। इसका अनुभव कर लेने पर

मनुष्य बाह्य वस्तुओं का आश्रय छोड़ देता है और अपने ही अन्तस् में परमानन्द की अनुभूति करता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति, विजान् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

—मुण्डकोपनिषद्

साक्षात्कार के लिए सत्य, तप, सच्चा ज्ञान और जीवन की पवित्रता नितान्त आवश्यक गुण हैं। ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जाने पर मनुष्य के अन्तस् में जीवित ज्योति के समान प्रकाशमान हो जाता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

—मुण्डकोपनिषद्

यह भगवान सदा सत्य से, यथार्थ ज्ञान से, तप से तथा ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जाता है। यह परमेश्वर शरीर के भीतर प्रकाशमय और शुद्ध है, अर्थात सब के भीतर पवित्र साक्षी है। उस ईश्वर को निर्दोष यति-जन देखते हैं।

□□

मंडल का

धर्म-अध्यात्म साहित्य

□

- गीता माता
- अनासक्ति योग
- गीता-बोध
- गीता-पदार्थ कोश
- गीता की महिमा
- भागवत कथा
- संत सुधासार (संक्षिप्त)
- भगवद्गीता
- भगवान हमारा मित्र
- रामकृष्ण उपनिषद्
- विष्णु सहस्रनाम
- गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे
- कबीर साहब की सुबोध साखियां
- रहीम के सुबोध दोहे
- गिरिधर की सुबोध कुण्डलियां
- बुद्ध-वाणी
- उपनिषद्
- आत्मचिन्तन
- भज गोविन्दम् स्तोत्र
- वेदान्त